ऋषभस्तोत्रप्रारंभः

गाथा

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलयेकदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥ १ ॥

जय ऋषभ नाभिनंदन त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर
जय सकलजीववत्सल निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ ।

अर्थः—श्रीमान नाभिराजाके पुत्र, तथा ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकरूपी जो घर उसके लिये दीपक, तथा धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हे ऋषभदेव भगवान! तुम सदा इसलोकमें जयवंत रहो। तथा समस्त जीवोंपर वात्सल्यको धारण करनेवाले, और निर्मल जो गुण वेही हुए रत्न उनके आकर (खजाना) ऐसे हे नाथ! तुम सदा इस लोकमें जयवंत रहो॥ १॥

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीठ तुमं
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह ॥ २ ॥

सकलसुरासुरमणिमुकुटकिरणैः कर्बुरितपादपीठ
त्वां धन्याः प्रेक्षंते स्तुवंति जपंति ध्यायंति जिननाथ ।

अर्थ—समस्त जो सुर तथा असुर उनके जो चित्रविचित्र मणियोकर सहित मुकुट, उनकी जो किरणें उनसे कर्वुरित अर्थात् चित्रविचित्र है सिंहासन जिनका ऐसे हे जिननाथ! जो मनुष्य आपको देखते हैं और आपकी स्तुति करते है तथा आपका जप और ध्यान करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं।

भावार्थः—हे जिनेंद्र! आपको बड़े बड़े सुर–असुर भी आकर नमस्कार करते है इसलिये हरएक मनुष्यको आपके दर्शनका तथा आपकी स्तुतिका और आपके जप तथा ध्यानका सुलभरीतिसे अवसर नही मिल सकता, किंतु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं जिनको आपका दर्शन मिलता है और आपकी स्तुति तथा जप और ध्यानका भी अवसर मिलता है वे मनुष्य ससारमे धन्य हैं अर्थात् उन मनुष्योको धन्यवाद है ॥ २ ॥

इसी श्लोकके तात्पर्यको लेकर कहीपर कहा भी है—

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोर्च्यते
यस्तं वंदति एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते ।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमनस्तोमेन संस्तूयते
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः ॥

अर्थ.—जो मनुष्य जिनेंद्रभगवानकी फूलोसे पूजन करता है वह मनुष्य परभवमें मदहास्यसहित ऐसी जो देवागना उनके नेत्रोसे पूजित होता है और जो मनुष्य एकबार भी जिनेद्रको वंदता है वह मनुष्य रात–दिन तीनो लोकमे वदनीय होता है अर्थात् तीनोंलोक आकर उसकी वंदना करता है, तथा जो मनुष्य एकबार भी जिनेद्रभगवानकी स्तुति करता है परलोकमे बड़े बड़े इंद्र उसकी स्तुति करते हैं और जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्रभगवानका ध्यान करता है वह समस्तकर्मोंसे रहित होजाता है तथा बड़े बड़े योगीश्वर भी उस मनुष्यका ध्यान करते है, इसलिये भव्यजीवोको चाहिये कि वे भगवानकी पूजन तथा वदना और स्तुति तथा ध्यान सर्वदा किया करें ॥ १ ॥

चम्मच्छिणावि देहे तइतइलोयेण माइ महहरिसो
णाणाच्छिणा उणोजिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ ॥ ३ ॥

चर्माक्ष्णापि दृष्टे त्वयि त्रैलोक्ये न माति महाहर्षः
ज्ञानाक्ष्णा पुनर्स जिन न जानीमः किं परिस्फुरति ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे भगवन्! यदि हम आपको चामकी आंखसे भी देख ले तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनो लोकोमें नही समाता, फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्रसे देखे तब तो हम कहही नहीं सकते कि हमको कितना आनन्द न होगा?

भावार्थ:—चर्मके नेत्रका विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है इसलिये उस चर्मनेत्रसे आपका समस्त स्वरूप हमको नही दीख सकता, किंतु हे प्रभो! उस चर्मनेत्रसे जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उससेही हमको इतना भारी हर्ष होता है कि औरकी तो क्या बात वह तीनो लोकमे भी नही समाता, किंतु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्रसे आपके समस्त स्वरूपको देखें तब हम नही जाव सकते हमको कितना आनन्द न होगा? ॥ ३ ॥

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवटसालूरो ॥ ४ ॥

त्वां जिन ज्ञानमनंतं विषयीकृतसकलवस्तुविस्तारं
यः स्तौति स प्रकाशयति समुद्रकथामवटसालूरः ।

अर्थ.—हे जिनेन्द्र! जो पुरुष, नहीं है अत जिसका तथा जिसने समस्त वतुओके विस्तारको विषय कर लिया है ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है वह कूवाका मैढ़क समुद्रकी कथाका वर्णन करता है।

भावार्थ—जिसप्रकार कूवाका मैढक समुद्रकी कथा नही कर सकता उसीप्रकार हे जिनेद्र! जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नही करता उसका ज्ञान समस्त पदार्थोका विषय करनेवाला नही होता किंतु जो मनुष्य आपकी भक्ति पूर्वक स्तुति करता है उसको विस्तृत ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

अह्मारिसाण तुह गोत्तकित्तणेणवि जिणेस संचरई ।
आयेसम्मग्गंती पुरउहियेइच्छिया लच्छी ॥ ५ ॥

अस्मादृशां तव गोत्रकीर्तनेनापि जिनेश संचरति
आदेशं मार्गयंती पुरतोहृदयेप्सिता लक्ष्मीः ।

अर्थः—हे जिनेंद्र ! हे प्रभो ! आपके नामके कीर्तन मात्रसेही हम सरीखे मनुष्योंके आगे आज्ञाको मांगती हुई मनोवाछित लक्ष्मी गमन करती है ।

भावार्थ.—हे जिनेन्द्र, आपके नाममे ही इतनी शक्ति है कि आपके नामके कीर्तन मात्रसेही हम सरीखे मनुष्योंके सामने हमारी आज्ञाको मागती हुई लक्ष्मी दौड़ती फिरती है, तब जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त कर लेगा उसकी तो फिर बात ही क्या है? अर्थात् उसको तो अवश्य ही अंतरग तथा वहिरग लक्ष्मीकी प्राप्ति होगी ॥५॥

जासिसिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा ।
संके जणियाणट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि ॥ ६ ॥

आसीत् श्रीः त्वयि सति त्वयि अवतीर्णे नष्टा
शंके जनितानिष्टा दृष्टा सर्वार्थसिद्धावपि ।

अर्थः—हे सर्वज्ञ ! हे जिनेश ! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धिविमानमें थे उससमय जैसी उस विमानकी शोभा थी वह शोभा आपके इस पृथ्वीतल उतरनेपर आपके वियोगसे उत्पन्न हुए दुःखसे नष्ट होगई । ऐसा मैं (ग्रन्थकार) शका (अनुमान) करता हूँ।

भावार्थ.—हे भगवन् ! आपमे यह बड़ी भारी एक प्रकारकी खूबी मौजूद है कि जहा पर आप निवास करते है वही पर उत्तम शोभा भी रहती है क्योंकि जिससमय आप सर्वार्थसिद्धिनामके विमानमे विराजमान थे उस समय उस विमानकी बड़ी भारी शोभा थी, किंतु जिससमय आप इस पृथ्वीतलमे उतरकर आये उस समय उस विमानकी उतनी शोभा नही रही किंतु इस पृथ्वीतलकी शोभा अधिक बढ़ गई ॥६॥

णाहिघरे वसुहारा वडणंजं सुइर महितहो अरणी ।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमयी जाया ॥ ७ ॥

नाभिगृहे वसुधारापतनं यत् सुचिरं महीमवतरणात्
आसीत् नभसो जिनेश्वर तेन धरा वसुमती जाता ।

अर्थ.—हे जिनेश्वर! जिस समय आप इस पृथ्वीतलपर उतरे थे उस समय जो नाभिराजाके घरमे बहुत कालतक धनकी वर्षा आकाशसे हुई थी उसीसे हे प्रभो! यह पृथ्वी वसुमती हुई है ।

भावार्थ:—पृथ्वीका नाम वसुमती है और जो धनको धारण करनेवाली होवे उसीको वसुमती कहते हैं, इसलिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वीका नाम वसुमती जो पड़ा है सो हे भगवन्! आपकी कृपासे ही पडा है क्योंकि जिस-समय आप सर्वार्थसिद्धिविमानसे पृथ्वीमण्डलपर उतरे थे उससमय बराबर १५ मास-तक रत्नोकी वृष्टि इस पृथ्वी मण्डलमे नाभिराजाके घरमे हुई थी, इसलिये पृथ्वीके समस्त दारिद्रय दूर हो गये थे। किंतु पहले इसका नाम वसुमती नही था ॥७॥

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे।
पुरऊपद्दो बज्झइ मज्झे से पुत्तवत्तीणं ॥८॥

शचीसुरनमितपदा मरुदेवी प्रभो स्थितोऽसि यद्गर्भे
पुरतःपद्दो बध्यते मध्ये तस्याः पुत्रवतीनाम्।

अर्थ:—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आप मरुदेवी माताके गर्भमे स्थित होते हुए इसीलिये मरुदेवीमाता इन्द्राणी तथा देवोसे नमस्कार किये गये हैं चरण जिसके ऐसी होती हुई और जितनीभर पुत्रवती स्त्रिया थीं उन सबमे मरुदेवीका ही पद सबसे प्रथम रहा।

भावार्थ:—संसारमें बहुतसी स्त्रिया पुत्रोंको पैदा करनेवाली हैं, उनमे मरुदेवीके ही चरणोंको क्यो इन्द्राणी तथा देवोने नमस्कार किया? और उनके चरणोंकी ही क्यों सेवा की? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो! मरुदेवीमाताके गर्भमें आप आकर विराजमान हुए थे इसलिये उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई और वे जितनी-भर पुत्रोको पैदा करनेवाली स्त्रिया थी और हैं, उनमे सबमे उत्तम समझी गई और कोई कारण नही ॥८॥

अंकत्थे तइ दिट्ठे जं तेण सुरालयं सुरिंदेण
अणिमेसत्तबहुत्तं सहलं णयणाणपडिवट्ठं ॥९॥

अकस्थे त्वयि दृष्टे गच्छता सुरालयं सुरेन्द्रेण
अनिमेषत्वबहुत्वं सफलं नयनानां प्रतिपन्नम्।

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! जिस समय आपको लेकर इन्द्र मेरुपर्वतको चला तथा आपको गोदमे बैठे हुए उसने देखा उस समय उसके नेत्रोकी निमेष (पलक) कर रहितपना तथा बहुतपना सफल हुआ।

भावार्थ:—हे प्रभो! इन्द्रके नेत्रोंकी अनिमेषता और अधिकता आपके देखनेसे ही सफल हुई थी, यदि इन्द्र आपके स्वरूपको न देखता तो उसके नेत्रोंका पलक-रहितपना और हजार नेत्रोका धारण करना सर्वथा निष्फल ही समझा जाता।

सारार्थ.—आपके समान रूपवान ससारमे दूसरा कोई मनुष्य नही था ॥ ९ ॥

तित्थत्तणमावट्टो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया ॥१०॥

तीर्थत्वमापन्नो मेरुस्तव जन्मस्नानजलयोगेन
तत् तस्य सूरप्रमुखाः प्रदक्षिणां जिन कुर्वंति।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेद्र! जिस समय आपका जन्मस्नान मेरुके ऊपर हुआ था उस समय उस स्नानके जलके सबधसे मेरु तीर्थपनेको प्राप्त हुआ था अर्थात् तीर्थ बना था और इसीलिये हे जिनेद्र! उस मेरुपर्वतकी सूर्य चद्रमा आदिक सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

भावार्थ—आचार्य उत्प्रेक्षा करते है कि हे प्रभो! जब तक मेरुपर्वतके ऊपर आपका जन्मस्नान नही हुआ था तव तक वह मेरुपर्वत सामान्य पर्वतोके समान था और तीर्थ भी नही था, किंतु जिस समयसे आपका जन्मस्नान मेरुके ऊपर हुआ है उस समयसे उस आपके जन्मस्नानके जलके सबधसे मेरुपर्वत तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थान हो गया है और यह बात ससारमे प्रत्यक्षगोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआ करती है उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते है, इसीलिये उस मेरुको पवित्र मानकर सूर्य चद्रमा आदि रात–दिन उस मेरुकी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते है ऐसा मालूम होता है ॥ १० ॥

मेरुसिरे पडणुच्छलि यणीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं ॥११॥

मेरुशिरसि पतनोच्छलननीरताडनप्रनष्टदेवानाम्
तद्वृत्तं तव स्नानं तथा यथा नभ आश्रितं कीर्णम्।

अर्थ.—हे जिनेद्र! हे प्रभो! मेरुपर्वतके मस्तक पर आपके स्नानके होने पर पतनसे

उछलता हुआ जो जल उसके ताडनसे अत्यंत नष्ट जो देव उन देवोंकी ऐसी दशा होती हुई मानो चारो ओरसे आकाश ही व्याप्त हो गया हो ॥ ११ ॥

णाह तुह जम्म हरिणो मेरुस्सि पणच्चमाणस्स ।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा तह अज्जवि भंगुरा मेहा ॥१२॥

नाथ तव जन्मस्नाने हरेर्मेरौ प्रनृत्यमानस्य
प्रलंबभुजाभ्यां भग्नाः तथा अद्यापि भंगुरा मेघाः ।

अर्थः—हे प्रभो ! आपके जन्मस्नानके समय जिस समय अपनी लंबी भुजाओंको फैलाकर इंद्रने नृत्य किया था उन लंबी भुजाओसे जो मेघ भग्न हुए थे, वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही है।

भावार्थ.—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते है कि जो मेघ क्षणभगुर मालूम पड़ते हैं, उनकी क्षणभगुरताका यही कारण है कि जिस समय भगवानका जन्मस्नान मेरुपर्वतके ऊपर हुआ था उससमय उस मेरुपर्वतके ऊपर आनदमे आकर अपनी भुजाओंको फैलाकर इद्रने भगवानके सामने नृत्य किया था और उस समय फैली हुई भुजाओसे मेघ भग्न हुए थे, इसीकारण अब भी मेघोमे भगुरता है किंतु भगुरताका दूसरा कोई भी कारण नही है ॥ १२ ॥

जाण बहुएहि वित्ती जाया कप्पदुमेहि तेहि विणा ।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥१३॥

यासां बहुभिर्वृत्तिर्जाता कल्पद्रुमैः, तैर्विना
एकेनापि तासां त्वया प्रजानां परिकल्पिता नाथ ।

अर्थ—हे नाथ! हे प्रभो! जिन प्रजाओकी आजीविका बहुतसे कल्पवृक्षोसे होती हुई, उन कल्पवृक्षोके अभावमें उन प्रजाओंकी आजीविका आप अकेलेनेही की ।

भावार्थ—जबतक ऋषभदेव भगवानकी उत्पत्ति पृथ्वीतलपर नही हुई थी उस समय तक इस जम्बूद्वीपमे भोगभूमिकी रचना थी और उस भोगभूमिकी स्थितिमें समस्त जीव भोगविलासी ही थे, क्योकि युगलिया उत्पन्न होते थे और जिस समय उनको जिस बातकी आवश्यकता होती थी उस समय उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये उनको

प्रयत्न नहीं करना पड़ता था किंतु वे सीधे कल्पवृक्षोंके पास चले जाते थे तथा जिस बातकी उनको अभिलाषा होती थी उस अभिलाषाकी पूर्ति उन कल्पवृक्षोंके सामनें कहनेपर ही हो जाती थी, क्योंकि उससमय दशप्रकारके कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा जुदी जुदी सामग्री देकर जीवोंको आनंद देते थे। किंतु जिससमय भगवान आदिनाथका जन्म हुआ उससमय जम्बूद्वीपमें कर्मभूमिकी रचना हो गई, भोगभूमिकी रचना न रही, तथा कल्पवृक्ष भी नष्ट होगये उससमय जीव भूखे मरने लगे और उनको अपनी आजीविकाकी फिक्र पडी, तब उस समय भगवान आदीश्वरने असि, मषि, वाणिज्य, आदिका उपदेश दिया तथा और भी नानाप्रकारके लौकिक उपदेश दिये जिससे उनको फिरभी वैसा ही सुख मालूम होने लगा, इसलिये कर्मभूमिकी आदिमें भगवान आदिनाथने ही कल्पवृक्षोंका काम किया था इसलिये इसी बातको ध्यानमे रखकर ग्रन्थकार भगवानकी स्तुति करते है कि हे प्रभो! जिन प्रजाओंकी आजीविका भोगभूमिकी रचनाके समय बहुतसे कल्पवृक्षोंसे हुई थी वही आजीविका कर्मभूमिके समय विना कल्पवृक्षोके आप अकेलेने ही की, इसलिये हे जिनेंद्र! आप कल्पवृक्षोंमें भी उत्तम-कल्पवृक्ष है ॥ १३ ॥

पहुणा तए सणाहा धरा सती एकहन्नहो वूढो
णवघणसमयसमुल्लसि यसासछम्मेण रोमंचो ॥ १४ ॥

प्रभुणा त्वया सनाथा धरा आसीत् तस्याः कथमहो वृद्धः
नवघनसमयसमुल्लसितश्वासच्छद्मना रोमांचः।

अर्थः—हे जिनेश! हे प्रभो! आपनेही यह पृथ्वी सनाथ की, क्योकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघके समयमें होनेवाला जो श्वासोच्छ्वास उसके बहानेसे इसमें रोमांच कैसे हुए होवे?

भावार्थ—जो स्त्री विवाहकी अत्यत अभिलाषिणी है यदि उसका विवाह होजावे अर्थात् वह सनाथा हो जाय तो जिसप्रकार उसके शरीरमें रोमाच उद्गत होजाते है और उस रोमांचके उद्गमसे उसकी सनाथताका अनुमान कर लिया जाता है उसीप्रकार हे प्रभो! जिससमय आप इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुवे थे उससमय पृथ्वीमें रोमांच हुए इसलिये उन रोमाचोंसे यह बात जान ली थी कि आपने इस पृथ्वीको सनाथा अर्थात् नाथसहित किया ॥ १४ ॥

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणिट्ठा पणच्चिरी अमरी
जइया तइयावि तये रायसिरी तारिसी दिट्ठा ॥ १५ ॥

विद्युदिव घने रंगे दृष्टप्रणष्टा प्रनत्यती अमरी
यदा तदापि त्वया राज्यश्रीः तादृशी दृष्टा ।

अर्थः—हे वीतराग ! जिसप्रकार मेघमें बिजली दीखकर नष्ट हो जाती है उसीप्रकार आपने जिससमय नृत्य करती हुई नीलाजसा नामकी देवांगनाको पहले देखकर पीछे नष्ट हुई देखी उसीसमय आपने राज्यलक्ष्मीको भी वैसाही देखा अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया ।

भावार्थः—किसी समय भगवान सिंहासन पर आनंदसे विराजमान थे और नीलांजसा नामकी अप्सराका नाच देख रहे थे, उसीसमय अकस्मात वह अप्सरा लीन हो पुन: प्रकट हुई; इस दृश्यको देखकर ही भगवानको शीघ्र ही इस बातका विचार हुआ कि जिसप्रकार यह अप्सरा लीन होकर तत्कालमें प्रगट हुई है उसी प्रकार इस लक्ष्मीका भी स्वभाव है अर्थात् यह भी चंचल है, अतएव उससमय शीघ्रही भगवानको वैराग्य हो गया । उसी अवस्थाको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकारने इस श्लोकसे भगवानकी स्तुति की है ॥ १५ ॥

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णंतिणव्व जं मुक्का
देव तएसा अज्जवि विलवइ सरिजलरवा वरई ॥ १६ ॥

वैराग्यदिने सहसा वसुधा जीर्णतृणमिव यत् मुक्ता
देव त्वया सा अद्यापि विलपति सरिज्जलमिषेण वराकी ।

अर्थः—हे जिनेश ! हे प्रभो ! जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था उस दिन जो आपने यह पृथ्वी पुराने तृणके समान छोड़ दी थी, वह दीन पृथ्वी इस समय भी नदीके व्याजसे विलाप कर रही है ।

भावार्थ:—जिस समय नदीमे जलका प्रवाह आता है उस समय नदी कल-कल शब्द करती है, उसको अनुभवकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो ! यह नदी जो कल-कल शब्द कर रही है यह इसका कल-कल शब्द नही है किंतु यह कल-कल शब्द इस पृथ्वीके विलापका शब्द है, क्योंकि जिस दिन

आपको वैराग्य हुआ था उस समय आपने इस बिचारी पृथ्वीको सड़े तृणके समान छोड़ दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिये आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कर रही है। और कोई भी कारण नही ॥१६॥

अइ सोइओसि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभोव्व ॥ १७॥

अतिशोभितोऽसि तदा कायोत्सर्गास्थितस्त्वं नाथ
धर्मैकगृहारंभे ऊर्ध्वीकृत मूलस्तंभ इव ।

अर्थ—हे भगवन्! हे प्रभो! जिससमय आप कायोत्सर्गसहित विराजमान थे उससमय धर्मरूपी घरके निर्माणमें उन्नत मूलखंभके समान आप अत्यंत शोभित होते थे।

भावार्थः—हे भगवन्! जिससमय आप कायोत्सर्गमुद्राको धारणकर वनमें खड़े थे उससमय ऐसा मालूम होता था कि आप इस धर्मरूपी घरके स्थित रहनेमे प्रधानखभ ही है अर्थात् जिसप्रकार मूलखभके आधारसे घर टिका रहता है उसीप्रकार आपके द्वारा ही यह धर्म विद्यमान था ॥ १७ ॥

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाणसहसासरीरधूमोव्व
सोहइ जिण तुह सीसे महुपरकुलसणिहकेसभरो ॥ १८॥

हृदयस्थध्यानशिखिदह्यमानशीघ्रशरीरधूम्रवत्
शोभते जिन तव शिरसि मधुकरकुलसन्निभः केशसमूहः ।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! भौंरोके समूहके समान काला जो आपके मस्तकपर बालोका समूह है, वह हृदयमे स्थित जो ध्यानरूपी अग्नि उससे शीघ्र जलाया हुआ जो शरीर उसके धूआके समान शोभित होता है ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ—धूआं भी काला है और भगवानके मस्तकपर विराजमान केशोका समूह भी काला है, इसलिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! वह जो आपके मस्तकपर बालोंका समूह है वह बालोंका समूह नही है किंतु

वैराग्यसंयुक्त आपके हृदयमें जलती हुई जो ध्यानरूपी अग्नि उससे जलाया हुआ जो आपका शरीर है उसका यह धूआं है ॥ १८ ॥

कम्मकलंकचउक्के णट्ठेणिम्मलसमाहि भूईए
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पणिप्फलियं ॥ १९ ॥

कर्मकलंकचतुष्के नष्टे निर्मलसमाधिभूत्या तव
ज्ञानदर्पणेऽत्र लोकालोकं प्रतिबिम्बितम् ॥

अर्थ—हे जिनेश ! हे प्रभो ! निर्मल समाधिके प्रभावसे चार घातिया कर्मोके नाश होनेपर आपके सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पणमे यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित होता हुआ ।

भावार्थः—जबतक इस आत्मामे अखडज्ञान (केवलज्ञान)की प्रकटता नही होती तबतक यह आत्मा लोक तथा अलोकके पदार्थोको नही जान सकता, किंतु जिस समय उस केवलज्ञानकी प्रकटता हो जाती है उस समय यह लोकालोकके पदार्थोको जानने लग जाता है तथा उस सम्यग्ज्ञानकी प्रकटता तेरहवें गुणस्थानमे, जबकि प्रकृष्टध्यानसे चार घातियाकर्मोका नाश हो जाता है तब होती है; इसी आशयको लेकर ग्रन्थकार स्तुति करते है कि हे प्रभो ! आपने प्रकृष्टध्यानसे चार घातियाकर्मोका नाश कर दिया है इसीलिये आप समस्त लोकालोकके भलीभाति जाननेवाले हुए है ॥ १९ ॥

आवरणाईण तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण
कम्मचउक्केणमुअंव णाह भीएण सेसेण ॥ २० ॥

आवरणादीनि त्वया समूलमुन्मूलितानि दृष्ट्वा
कर्मचतुष्केण मृतवत् नाथ भीतेन शेषेण ॥

अर्थ—हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! जिस समय आपने जड़सहित ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोका सर्वथा नाश कर दिया था उस समय, उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मोको देखकर शेषके जो चार अघातिया रहे वे भयसे आपकी आत्मामे मरे हुए के समान रह गये ।

भावार्थः—जिस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, इन चार कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है उस समय शेष जो वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र, ये चार अघातिया कर्म हैं वे बलहीन रह जाते हैं; इसी आशयको मनमें रखकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन्! जो अघातिया कर्म आपकी आत्मामें मृतके समान अशक्त होकर पड़े रहे उनकी अशक्तताका कारण यह है कि जब आपने अत्यंत प्रबल चार घातिया कर्मोंको नाश कर दिया उस समय उनको बड़ा भारी भय हुआ कि हम भी अब निर्मूल किये जायंगे, इसीलिये वे मरे हुएके समान अशक्त ही आपकी आत्मामें स्थित रहे ॥ २० ॥

णाणामणिणिम्माणे देव ट्ठिउ सहसि समवसरणम्मि ।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं ॥ २१ ॥

नानामणिनिर्माणे देव स्थितः शोभते समवसरणे
उपरि इव सन्निविष्टः यावतां योगिनां सर्वेषाम् ॥

अर्थः—हे जिनेश! हे प्रभो! जिस समवसरणकी रचना चित्रविचित्र मणियोंसे की गई थी ऐसे समवसरणमें जितनेभर मुनि थे उन समस्त मुनियोंके ऊपर विराजमान आप अत्यंत शोभाको प्राप्त होते थे ॥ २१ ॥

लोउत्तरावि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये ।
लहिऊण लहइमहिमं रविणो णलिणिव्व कुसुमट्ठा ॥ २२ ॥

लोकोत्तरापि सा समवसरणशोभा जिनेश तव पादौ ।
लब्ध्वा लभते महिमानं रवेः नलिनीव कुसुमस्था ॥

अर्थ.—हे भगवन्! हे प्रभो! जिसप्रकार पुष्पमे स्थित कमलिनी सूर्यकी किरणोंको पाकर और भी अधिक महिमाको प्राप्त होती है, उसीप्रकार यद्यपि समवसरणकी शोभा स्वभावसे ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र! आपके चरणकमलोको पाकर वह और भी अत्यंत महिमाको धारण करती है ।

भावार्थ.—एक तो कमलिनी स्वभावसे ही अत्यत मनोहर होती है, किंतु यदि वही कमलिनी सूर्यकी किरणोंको प्राप्त हो जावे तो और भी महिमाको प्राप्त

होती है; उसीप्रकार समवसरणकी शोभा एक तो स्वभावसे ही लोकोत्तर अर्थात् सबसे उत्तम होती है और आपके चरणोके आश्रयको प्राप्त होकर और भी वह अत्यंत महिमाको धारण करती है ॥ २२ ॥

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहासितं तहवि ।
सींहासणायलत्थो जिणंदकयकुवलयाणंदो ॥ २३ ॥

निर्दोपः अकलंकः अजडः चंद्रवत् शोभते तथापि ।
सिहासनाचलस्थः जिनेन्द्र कृतकुवलयानन्दः ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र ! हे प्रभो ! आप यद्यपि निर्दोष तथा अकलक और अजड़ हैं तो भी अचल सिहासनमे स्थित तथा किया है कुवलयको आनन्द जिन्होने ऐसे आप चन्द्रमाके समान शोभित होते हैं ।

भावार्थः—आप तो निर्दोष हैं और चन्द्रमा दोषा (रात्रि) कर सहित है अर्थात् सदोष है, और आप तो कर्मकलंककर रहित है किंतु चद्रमा कलंककर सहित है, तथा आप तो जड़ता रहित हैं किंतु चंद्रमा जड़ताकर सहित है, इसलिये इस रीतिसे तो आपमें तथा चद्रमामें भेद है, परंतु जिसप्रकार चद्रमा पर्वतके शिखरपर स्थित रहता है और रात्रिविकासी कमलोको आनन्दका देनेवाला होता है इसलिये शोभाको प्राप्त होता है, उसीप्रकार पर्वतके समान आप भी सिंहासनपर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वीमंडलको आनंद दिया था इसलिये आप भी चद्रमाके समान ही शोभित होते थे ॥ २३ ॥

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा ।
होइ असोहो रुक्खोवि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥ २४ ॥

आस्तां तावत् इतरा स्फुरितविवेका नम्रशिरः शिखराः
भवति अशोको वृक्षः अपि नाथ तव सन्निधानस्थः ॥

अर्थ.—आचार्य कहते है कि हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! जिन भव्यजीवोंके ज्ञानकी ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते है वे तो दूर ही रहे, किंतु हे भगवन् ! आपके समीप रहा हुआ जड़ भी वृक्ष, अशोक हो जाता है ।

भावार्थः—हे जिनेश ! जिनको ज्ञान मौजूद है अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेवाले है ऐसे भव्यजीव आपके पासमे रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोकरहित होजाते है इसमे तो कोई आश्चर्य नही, किन्तु जो वृक्ष जड़ है वह भी आपके केवल समीपमे रहा हुआ ही अशोक हो जाता है इसमे बडा भारी आश्चर्य है ।। २४ ।।

छत्तत्तयमालंवियणिम्मलमुत्ताहलच्छलात्तुज्झ ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयंपिव णाह विंदूहिं ॥ २५॥

छत्रत्रयमालंवितनिर्मलमुक्ताफलच्छलात्तव
जनलोचनेषु वर्षति अमृतमिव नाथ विंदुभिः ॥

अर्थः—हे भगवन् ! हे नाथ ! आपके जो ये तीनो छत्र है वे लटकते हुए जो निर्मल मुक्ताफल उनके व्याजसे मनुष्योकी आखोमे विंदुओसे अमृतकी वर्षा करते है ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—हे भगवन् ! जिससमय भव्यजीव आपके छत्रको देखते है उस-समय उनको इतना आनन्द होता है कि आनन्दके मारे उनकी आंखोंसे अश्रुपात होने लगता है ।। २५ ।।

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहच्छचलियाइ ।
तुह देव सरहससहरकिरणकयाइव्व चमराइ ॥ २६ ॥

कृतलोकलोचनोत्पलहर्षाणि सुरेशहस्तचालितानि
तव देव शरच्छशधरकिरणकृतानि इव चमराणि ॥

अर्थः—जिन चमरोके देखनेसे समस्त लोकके नेत्ररूपी कमलोंको हर्ष होता है और जिनको बड़े बड़े इंद्र ढोरते है ऐसे हे जिनेद्र ! आपके चमर शरदऋतुके चंद्रमाकी किरणोंसे बनाये गये है ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—और ऋतुकी अपेक्षा शरदऋतुके चद्रमाकी किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है, इसलिये ग्रन्थकार कहते है कि हे भगवन् ! आपके चमर इतने स्वच्छ तथा सफेद है जो कि ऐसे मालूम होते है मानो शरदकालीन चंद्रमाकी

किरणोसे ही बनाये हुए हैं और जिनको देखनेमात्रसे समस्त लोकके नेत्रोको आनंद होता है तथा जिनको बड़े इद्र आकर ढोरते हैं ॥ २६ ॥

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमस्मि काऊण
अमरकयपुप्पविट्ठिछलइव बहु मुअइ कुसुमसरो ॥ २७ ॥

विफलीकृतपंचशरः पंचशरो जिन त्वयि कृत्वा
अमरकृतपुष्पवृष्टिच्छलाद् इव वहून् मुंचति कुसुमशरान् ॥

अर्थः—हे भगवन् ! हे जिनेंद्र ! जिस कामदेवके आपके सामने पांचों बाण विफल हो गये हैं ऐसा वह कामदेव, देवोकर की हुई जो आपके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा उसके व्याजसे पुष्पोंके बाणोंका त्याग कर रहा है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—आपके अतिरिक्त जितनेभर देव हैं उनको बाण मार-मारकर कामदेवने वशमे कर लिया, किंतु हे प्रभो ! जब वही कामदेव अपने बाणोसे आपको भी वश करने आया तब आपके सामने तो उसके बाण कुछ कर ही नहीं सकते थे। इसलिये उस कामदेवके समस्त बाण आपके सामने विफल हो गये, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि जिससमय देवोने आपके ऊपर फूलोंकी वर्षा की उस समय वह फूलोकी वर्षा नही थी किंतु अपने बाणोको योग्य न समझकर कामदेव अपने फूलोंके बाणोंको फेंक रहा है, क्योंकि ससारमे यह बात देखनेमें भी आती है कि समयके ऊपर जो चीज काम नहो देती उसको मनुष्य फिर छोड़ ही देता है ॥ २७ ॥

एस जिणो परमप्पा णाणोण्णाणं सुणेह मावयणं
तुह दुंदुही रसंतो कहइव तिजयस्स मिलियस्स ॥ २८ ॥

एष जिनः परमात्मा नान्योऽन्येषां शृणुत मावचनम्
तव दुंदुभिः रसन् कथयति इव त्रिजगतः मिलितस्य ॥

अर्थ—हे भगवन् ! बजती हुई जो आपकी दुदुभि (नगाड़ा) वह तीनों-लोकको इकट्ठा कर यह बात कहती है कि हे लोगो ! यदि वास्तविक परमात्मा

है तो भगवान आदिनाथ ही है, किंतु इनसे भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं, इसलिये तुम इनसे अतिरिक्त दूसरेका उपदेश मत सुनो, इन्हीं भगवानके उपदेशको सुनो ।

भावार्थः—मगलकालमें जिससमय आपकी दुदुभि आकाशमे शब्द करती है अर्थात् बजती है उस समय उसके बजनेका शब्द निष्फल नही है, किंतु वह इस बातको पुकार पुकार कर कहती है कि हे भव्य जीवो ! यदि तुम परमात्माका उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्रीआदिनाथका दिया हुआ ही उपदेश सुनो, किंतु इनसे भिन्न जो दूसरे दूसरे देव हैं उनके उपदेशको अंशमात्र भी मत सुनो, क्योंकि यदि परमात्मा हैं तो श्रीआदीश्वर भगवान ही है, किंतु इनसे भिन्न लोकमें दूसरा परमात्मा नहीं ॥ २८ ॥

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं ॥ २९ ॥

रवेः संतापकरं शशिनः पुनः जडताकरं देव
संतापजडत्वहरं तवार्चित प्रभो प्रभावलयम् ॥

अर्थः—हे जिनेश ! हे प्रभो ! सूर्यका प्रभासमूह तो मनुष्योको संतापका करनेवाला है तथा चंद्रमाका प्रभासमूह जडताका करनेवाला है, कितु हे पूज्यवर ! आपका प्रभासमूह तो संताप और जड़ता दोनोको नाश करनेवाला है ।

भावार्थः—यद्यपि ससारमें बहुतसे तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु हे पूज्यवर प्रभो ! आपके समान कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नही, क्योंकि हम यदि सूर्यको उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहैं सो हम कह नही सकते, क्योंकि उसका जो प्रभाका समूह है वह मनुष्योंको अत्यंत संतापका करनेवाला है और यदि चन्द्रमाको हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहै तो यह भी बात नही बन सकती, क्योकि चन्द्रमाकी प्रभाका समूह जड़ताका करनेवाला है, किन्तु हे जिनवर ! आपकी प्रभाका समूह सताप तथा जड़ता दोनोका सर्वथा नाश करनेवाला है, इसलिये आपकी प्रभाका समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है ॥ २९ ॥

मंदरमहिज्जमाणांबुरासिणिग्घोससण्णिहा तुज्झ
वाणीसुहा ण अण्णा संसारविसस्सणासयरी ॥ ३० ॥

मंदरमध्यमानाम्बुराशिनिर्घोषसन्निभा तव ।
वाणी शुभा संसारविषस्य नाशकरी ॥

अर्थः—हे भगवन्! हे जिनेश! मंदराचलसे मथन किया गया जो समुद्र, उसका जो निर्घोष (बड़ा भारी शब्द) उसके समान जो आपकी वाणी है वह शुभ है किंतु अन्यवाणी शुभ नहीं। तथा आपकी वाणी ही संसाररूपी विषको नाश करने वाली है किन्तु और दूसरी वाणी संसाररूपी विषको नाश करने वाली नही है।

भावार्थः—हे भगवन्! यद्यपि संसारमें बहुतसे बुद्ध प्रभृति देव मौजूद हैं और वाणी उनकी भी मौजूद है किन्तु हे प्रभो! जैसी आपकी वाणी (दिव्य ध्वनि) शुभ तथा उत्तम है वैसी बुद्ध आदिकी वाणी नही, क्योंकि आपकी वाणी अनेकातस्वरूप पदार्थका वर्णन करनेवाली है और उनकी वाणी एकांतस्वरूप पदार्थका वर्णन करनेवाली है तथा वस्तु अनेकातात्मक ही हैं, एकातात्मक नही। और आपकी वाणी समस्त ससाररूपी विषको नाश करनेवाली है किन्तु बुद्ध आदिकी वाणी संसाररूपी विषको नाश करनेवाली नही, संसाररूपी विषको उत्कट करनेवाली ही है; तथा आपकी वाणी मंदराचलसे जिससमय समुद्रका मथन हुआ था और जैसा उस समयमें शब्द हुआ था उसी शब्दके समान उन्नत तथा गंभीर है ॥ ३० ॥

पत्ताण सारणिंपिव तुज्झगिरं सा गई जडाणंपि ।
जा मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होई ॥ ३१ ॥

प्राप्तानां सारिणीमिव तव गिरं सा गतिः जड़ानामपि ।
या मोक्षतरुस्थाने असदृशफलकारणं भवति ॥

अर्थ.—हे प्रभो! हे जिनेश! जो अज्ञानी जीव आपकी वाणीको प्राप्त कर लेते हैं उन अज्ञानी भी जीवोंकी वह गति होती है जो गति मोक्षरूपी वृक्षके स्थानमें अत्युत्तम फलकी कारण होती है।

भावार्थः—जो जीव ज्ञानी हैं वे आपकी वाणीको पाकर मोक्षस्थानमें जाकर उत्तम फलको प्राप्त होते हैं इसमें तो किसीप्रकारका आश्चर्य नहीं, किन्तु हे भगवन्! अज्ञानी भी पुरुष आपकी वाणीका आश्रयकर मोक्षस्थानमे उत्तम फलको प्राप्त करते हैं और जिसप्रकार नदी वृक्षके पासमें जाकर उत्तम फलोंकी उत्पत्तिमें कारण होती है उसीप्रकार आपकी वाणी भी उत्तम फलोंकी उत्पत्तिमें कारण है, इसलिये आपकी वाणी उत्तम नदीके समान है ॥ ३१ ॥

पोयंपिव तुह पवयणम्मि सल्लीणफुडमहो कयजडोहं ।
हेलाणच्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं ॥ ३२ ॥

पोत इव तव प्रवचने सल्लीना स्फुटमहो कृतजलौघम् ।
हेलयार्चित जीवाः तरंति भवसागरमनंतं ॥

अर्थः—जिन मनुष्योंके पास जहाज मौजूद है वे मनुष्य जिसप्रकार उस जहाजमें बैठकर जिसमें बहुतसा जलका समूह विद्यमान है ऐसे समुद्रको बातकी बातमें तर जाते हैं, उसीप्रकार हे पूज्य! हे जिनेश! जो मनुष्य आपके वचनमें लीन हैं अर्थात् जिन मनुष्योंको आपके वचनके ऊपर श्रद्धान है, बड़े आश्चर्यकी बात है कि वे मनुष्य भी पलमात्रमें जिसका अंत नही है ऐसे ससाररूपी सागरको तर जाते हैं।

भावार्थः—हे प्रभो! इससमय जितनेभर जीव है सब अज्ञानी हैं, उनको स्वयं वास्तविक मार्गका ज्ञान नही हो सकता, यदि हो सकता है तो आपके वचनमे श्रद्धान रखनेपर ही हो सकता है। इसलिये हे प्रभो! जिन मनुष्योंको आपके वचनोंपर श्रद्धान है वे मनुष्य अनंत भी इस संसारसमुद्रको बातकी बातमें तर जाते हैं किंतु जो मनुष्य आपके वचनोमें श्रद्धान नही रखते वे इस ससार-समुद्रसे पार नहीं हो सकते; जिसप्रकार जहाजवाला ही समुद्रको पार कर सकता है और जिसके पास जहाज नहीं वह नही कर सकता ॥ ३२ ॥

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं
तह हियियपईपअरं सव्वत्तणमप्पणो णाह ॥ ३३ ॥

तव वचनमेव साधयति नूनमनेकांतवादविकटपथम्
तथा हृदयप्रदीपकरं सर्वज्ञत्वमात्मनो नाथ ॥

अर्थः—हे जिनेंद्र ! हे प्रभो ! आपके वचन ही निश्चयसे अनेकांतवादरूपी जो विकट मार्ग है उसको सिद्ध करते है, तथा हे नाथ ! यह जो आपका सर्वज्ञपना है वह समस्त मनुष्योंके हृदयोको प्रकाश करनेवाला है।

भावार्थ.—जितनेभर पदार्थ है वे समस्त पदार्थ अनेकधर्मस्वरूप हैं, जब और जिस वाणीसे उन पदार्थोंके अनेक धर्मोंका वर्णन किया जायगा तभी उन पदार्थोका वास्तविक स्वरूप समझा जायगा, किंतु दो—एक धर्मके कथनसे उन पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप नही समझा जा सकता; और हे भगवन् ! आपसे अतिरिक्त जितनेभर देव हैं उन सबकी वाणी एकातमार्गको ही सिद्ध करती है, इसलिये उनकी वाणी वस्तुके वास्तविक स्वरूपको नही कह सकती, किंतु आपकी वाणी ही अनेकातमार्गको सिद्ध करनेवाली है- इसलिये वही पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपका वर्णन कर सकती है, तथा आपके सर्वज्ञपनेसे भी समस्त मनुष्योंके हृदयको प्रकाश होता है अर्थात् जिस समय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं उस समय उनके हृदयमे भी वास्तविक पदार्थोका ज्ञान हो जाता है ॥ ३३ ॥

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइवलेण केवलिणो
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खगणणेवि सो अंधो ॥ ३४ ॥

विप्रतिपद्यते यस्तव गिरि मतिश्रुतिवलेन केवलिनः
वरदृष्टिदृष्टनभोयातपक्षिगणनेपि सोन्धः ॥

अर्थ.—हे भगवन् ! जो मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके ही बलसे आप केवलीके वचनमे विवाद करता है वह मनुष्य उस प्रकारका काम करता है कि अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा देखे हुए जो आकाशमें जाते हुए पक्षी उनकी गणनामे जिस प्रकार अधा सशय करता है।

भावार्थ.—जिसकी दृष्टि तीक्ष्ण है ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोकी गणना करे और उस समय कोई पासमे बैठा हुआ अंधा पुरुष उससे पक्षियोंकी गणनामें विवाद करै तो जैसा उस सूझते पुरुषके सामने उस

अंधेका विवाद करना निष्फल है उसी प्रकार हे प्रभो ! हे जिनेश ! यदि कोई केवल मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका धारी आपके वचनमें विवाद करै तो उसका भी विवाद करना निरर्थक ही है; क्योंकि आप केवली है तथा आपके ज्ञानमें समस्त लोक तथा अलोकके पदार्थ हाथकी रेखाके समान झलक रहे है और वह प्रतिवादी मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका धारी होनेके कारण थोड़े ही पदार्थोंका ज्ञाता है ।। ३४ ।।

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं ।। ३५ ।।

भिन्नानां परनयानाम् एकमेकमसंगतानां तव
प्राप्नुवंति जगत्त्रये जयं मध्ये रिपूणां किं चित्रम् ।।

अर्थः—हे भगवन् ! हे प्रभो ! आपके नय, परस्परमें नहीं संबंध रखनेवाले तथा भिन्न, ऐसे परवादियोके नयरूपी वैरियोंके मध्यमें तीनों जगतमें विजयको प्राप्त होते हैं इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं ।

भावार्थः—परस्परमें नहीं संबंध रखनेवाले तथा एक–दूसरेके विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एक–दूसरेके विरोधी नहीं हैं ऐसे योधाओंके द्वारा जिस प्रकार बातकी बातमें जीत लिये जाते हैं, तो जैसा उन शत्रुओंके जीतनेमें कोई आश्चर्य नही है, उसी प्रकार हे प्रभो ! जो परवादियोके नय परस्परमें एक-दूसरेसे सबंध नही रखनेवाले हैं तथा भिन्न हैं ऐसे उन नयोंको यदि परस्परमे सबध रखनेवाले तथा अभिन्न आपके नय जीत लेवें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नही है ।। ३५ ।।

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ
जत्थ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा ।। ३६ ।।

अन्यस्य जगति जिह्वा कस्य सज्ञानस्य वर्णने तव
यत्र जिन तेऽपि जाताः सुरगुरुप्रमुखाः कवयः कुंठाः ।।

अर्थः—हे जिनेश ! हे प्रभो ! ऐसा ससारमे कौनसा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तम ज्ञानके धारक आपका वर्णन करनेमे समर्थ हो ? क्योंकि

बृहस्पति आदिक जो उत्तम कवि हैं वे भी आपका वर्णन करनेमें मंदबुद्धि है।

भावार्थः—संसारमे बृहस्पतिके बराबर पदार्थोका वर्णन करनेमे दूसरा कोई उत्तम कवि नही है, क्योंकि वे इंद्रके भी गुरु हैं, किंतु हे जिनेंद्र! आपका गुणानुवाद करनेमें वे भी असमर्थ है अर्थात् उनकी बुद्धिमे भी यह सामर्थ्य नही जो आपका गुणानुवाद वे कर सकें, क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाह हैं। और जब बृहस्पतिकी जिह्वा भी आपका गुणानुवाद करनेमें हार मानती है तब अन्य साधारण मनुष्योकी जिह्वा आपका गुणानुवाद कर सके यह बात सर्वथा असभव है ॥ ३६ ॥

सो मोहत्थेण रहिओ पयासिओ पहु सुपहो तएवईया
तेणाज्जवि रयणजुआ णिव्विग्घं जंति णिव्वाणं ॥ ३७ ॥

स मोहचौररहितः प्रकाशितः प्रभो सुपंथा तस्मिन्काले
तेनाद्यापि रत्नत्रययुता निर्विघ्नं यांति निर्वाणम् ॥

अर्थः—हे प्रभुओंके प्रभु जिनेंद्र! आपने उस समय मोहरूपी चोरकर रहित उत्तम मार्गका प्रकाशन किया था, इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके धारी भव्य जीव इस समय भी उस मार्गसे बिना ही क्लेशके मोक्षको चले जाते हैं।

भावार्थ.—यदि मार्ग साफ तथा चोरोंके भयकर रहित होवे तो रस्तागीर जिसप्रकार बिना ही विघ्नसे उस मार्गसे चले जाते हैं उसीप्रकार हे भगवन्! आपने भी जिस मार्गका उपदेश दिया है वह मार्ग भी साफ तथा सबसे बलवान मोहरूपी चोरकर रहित है, इसलिये जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारी है वे विना ही किसी विघ्नके सुखसे उस मार्गसे मोक्षको चले जाते हैं।

सारार्थ.—यदि मोक्षमार्गमे गमन करनेवाले प्राणियोको रोकनेवाला है तो मोहरूपी चोर ही है, इसीलिये भव्य जीव सहसा मोक्षको नही जाते। और हे भगवन्! आपने मोहरहित मार्गका वर्णन किया है इसलिये भव्य जीव निर्विघ्न मोक्षको चले जाते है ॥ ३७ ॥

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए
केहिं ण जुणतिणाइव इयरणिहाणाइ भुवणम्मि ॥ ३८ ॥

उन्मुद्रिते तस्मिन् खलु मोक्षनिधाने गुणनिधान त्वया
कैर्न जीर्णतृणानीव इतरनिधानानि भुवने ॥

अर्थ—हे भगवन्! हे गुणनिधान! जिस समय आपने मोक्षरूपी खजानेको खोल दिया था उस समय ऐसे कौनसे भव्य जीव नही है जिन्होने सड़े तृणके समान दूसरे–दूसरे राज्य आदि निधानोंको नहीं छोड़ दिया।

भावार्थ.—जिनेश! हे गुणनिधान! जबतक भव्यजीवोने मोक्षरूपी खजानेको नहीं समझा था तथा उसके गुणोंको नही जाना था तभीतक वे राज्य आदिको उत्तम तथा सुखका करनेवाला समझते थे, किंतु जिस समय आपने उनको मोक्षरूपी खजानेको खोलकर दिखा दिया तब उन्होने राज्य आदिक निधानोको सड़े हुए तृणके समान छोड़ दिया अर्थात् वे सब मोक्षरूपी खजानेकी प्राप्तिके इच्छुक हो गये ॥ ३८ ॥

मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण
इयरणाए कह पहु विवेयणो चेयणं लहइ ॥ ३९ ॥

मोहमहाफणिदष्टो जनो विरागं त्वां प्रमुच्य
इतराज्ञया कथं प्रभो चेतनां लभते ॥

अर्थः—हे प्रभो! हे जिनेश! जो पुरुष मोहरूपी प्रबल सर्पसे काटा गया है अर्थात् जो अत्यंत मोही है वह मनुष्य समस्त प्रकारके रोगोसे रहित वीतराग आपको छोड़कर आपसे भिन्न जो कुदेव हैं उनकी आज्ञासे कैसे चेतनाको प्राप्त कर सकता है? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है?

भावार्थः—जो जीव यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है, तथा यह संपत्ति मेरी है, इस प्रकार अनादि कालसे मोहकर ग्रस्त हो रहा है अर्थात् जिसको अंशमात्र भी हिताहितका ज्ञान नही है, हे प्रभो! उस मनुष्यको कभी भी आपसे भिन्न कुदेवादिकी आज्ञासे चेतनाकी प्राप्ति नही हो सकती अर्थात् वह मनुष्य कदापि कुदेवादिके मार्गमे गमन करनेसे ज्ञानका संपादन नही कर सकता ॥ ३९ ॥

भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव
सवरस्सव परमारणकारणमियराण जिणणाह ॥ ४० ॥

भवसागरे धर्मो धरति पतंतं जनं तवैव
शवरस्येव परमारणकारणमितरेषां जिननाथ ॥

अर्थ.—हे प्रभो ! हे जिनेश ! संसाररूपी समुद्रमे गिरते हुए जीवोको आपका धर्म ही धारण करता है, किंतु हे जिनेन्द्र ! आपसे भिन्न जितनेभर धर्म हैं वे भीलके धनुषके समान दूसरोंके मारनेमे ही कारण हैं।

भावार्थ:—जिसप्रकार भीलका धनुष जीवोंको मारने ही वाला है, रक्षा करनेवाला नही; उसी प्रकार हे जिनेन्द्र ! यद्यपि संसारमें बहुतसे धर्म मौजूद हैं परन्तु वे सर्व धर्म प्राणियोको दु खोके ही कारण है अर्थात् जो प्राणी उन धर्मोंको धारण करता है उसको अनेक गतियोंमे भ्रमण ही करना पडता है, तथा उन गतियोंमें नाना प्रकारके दु.खोको वह उठाता है क्योकि उन धर्मोंमे वस्तुका वास्तविक स्वरूप जो कि जीवोंको हितकारी नहीं है बतलाया गया है, किन्तु हे प्रभो ! आपके धर्ममे वस्तुका यथार्थ स्वरूप भलीभांति बतलाया गया है अर्थात् असली मोक्षमार्ग आदिको विस्तृत रीतिसे समझाया गया है, इसलिये जो प्राणी आपके धर्मको धारण करनेवाले हैं वे शीघ्र ही इस भयंकर संसाररूपी समुद्रको तर जाते है, इसलिये आपका धर्म ही उत्तम धर्म है ॥ ४० ॥

अण्णो को तुह पुरउ वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंसो
जम्मि तइ परमियत्तं केशणहाणंपि जिण जायं ॥ ४१ ॥

अन्यः कः तव पुरतो वल्गति गुरुत्वं प्रकाशयन् ।
यस्मिन् त्वयि प्रमाणत्वं केशनखानामपि जिन जातम् ॥

अर्थ.—हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! जब आपके केश तथा नख भी परिमित हैं अर्थात् बढते—घटते नही, तब ऐसा कौन है जो आपके सामने अपनी गुरुताको प्रकाशित करता हुआ बोलनेकी सामर्थ्य रखता हो।

भावार्थः—जब अचेतन भी नख तथा केश आपके प्रतापसे सदा परिमित ही रहते हैं अर्थात् न कभी बढ़ते है तथा न कभी घटते है, तब जो आपके प्रतापको जानता है वह कैसे आपके सामने अपनी महिमाको प्रकट कर सकता है तथा आपके सामने अधिक बोल सकता है ॥ ४१ ॥

सोहइ सरीरं तुह पहु तिहुयणजणणयणबिंबविच्छुरियं
पडिसमयमच्चियं चारुतरलनीलुप्पलेहिंव ॥ ४२ ॥

शोभते शरीरं तव प्रभो त्रिभुवननयनबिंबविच्छुरितं ।
प्रतिसमयमर्चितं चारुतरलनीलोत्पलैरिव ॥

अर्थः—हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! तीनोलोकके जीवोंके जो नेत्र, उनके जो प्रतिबिंब, उनसे चित्रविचित्र आपका शरीर ऐसा मालूम पड़ता है मानों सुन्दर तथा चंचल नीलकमलोसे प्रतिसमय पूजित ही है क्या ?

भावार्थः—हे जिनेन्द्र ! आपका शरीर अत्यंत स्वच्छ सोनेके रगका है और जीवोके नेत्रोंको उपमा नील कमलोंसे दी गई है, इसलिये जिस समय वे जीव आपके दर्शन करते है उस समय उनके नेत्रोके प्रतिबिंब आपके शरीरमें पड़ते हैं, उन नेत्रोंके प्रतिबिंबको अनुभवकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते है कि हे प्रभो ! वे नेत्रोके प्रतिबिंब नही हैं किन्तु प्रतिसमय समस्त जीव आपकी नील कमलोंसे पूजा करते हैं इसलिये वे नील कमल है ॥ ४२ ॥

अहमहमिआये णिवडंति णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू
तुज्झच्चिय णहपहसरसज्झट्ठियचलणकमलेसु ॥ ४३ ॥

अहमहमिकया निपतंति नाथ क्षुधितालय इव हरिचक्षूंषि ।
तव अर्चितनखप्रभासरोमध्यस्थितचरणकमलेषु ॥

अर्थः—हे जिनेश ! हे प्रभो ! आपके पूजित जो नख, उनकी जो प्रभा (काति) वही हुआ सरोवर, उसके मध्यमें स्थित जो चरणकमल उनमें भूखे भ्रमरोंके समान इन्द्रोके नेत्र अहम् अहम् (मैं मैं) इस रीतिसे गिरते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार कमलोमें सुगंधके लोलुपी भ्रमर बारम्बार आकर

गिरते हैं उसी प्रकार हे जिनेन्द्र ! जिस समय इन्द्र आकर आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं उस समय आपके चरणकमलोमें भी उन इन्द्रोंके नेत्ररूपी भ्रमर पड़ते हैं और वे नेत्र काले काले भ्रमरोके समान मालूम पडते हैं ॥४३॥

कणयकमलाणमुवरिं सेवातुहविवुहकप्पियाण तुह
अहियसिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाणसंचरणं ॥ ४४ ॥

कनककमलानामुपरि सेवातुरविवुधकल्पितानां तव
अधिकश्रीणां ततो युक्तं चरणानां संचरणम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र ! हे प्रभो ! आपके चरण अत्यंत उत्तम शोभाकर सयुक्त है, इसलिये उनका भक्तिवश देवों द्वारा रचित जो सुवर्णकमल उनके ऊपर गमन करना युक्त ही है ।

भावार्थः—जिस समय भगवान ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर देते है उस समय उनको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेके पीछे वे उपदेश देनेको निकलते हैं, उस समय यद्यपि वे आकाशमें अधर चलते हैं तो भी देव भक्तिके वश होकर उनके चलनेके लिये सुवर्णकमलोंसे निर्मित मार्गकी रचना करते हैं; उसी आशयको मनमे रखकर ग्रन्थकार भगवानकी स्तुति करते है कि हे भगवन् ! आपने जो देवरचित सुवर्णकमलो पर गमन किया था वह सर्वथा युक्त ही था, क्योंकि जैसे सुवर्णकमल एक उत्तम पदार्थ थे उसीप्रकार आपके चरण भी अति उत्तम शोभाकर सयुक्त थे ॥ ४४ ॥

सइहरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहि तुह जसो सग्गो
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकसल्लीणे ॥ ४५ ॥

शचीन्द्रकृतकर्णसुखं गीयते अमरैस्तव यशः स्वर्गे
मन्ये तच्छ्रोतुमनाः हरिणः हरिणांकसल्लीनः ॥

अर्थः—हे भगवन् ! हे जिनेन्द्र ! जिसके सुननेसे इद्र तथा इद्राणीके कानोको सुख होता है ऐसे आपके यशको सदा स्वर्गोंमे देवता लोग गाया करते हैं, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उसीके सुननेके लिये मृग चंद्रमामे जाकर लीन हो गया ।

भावार्थः—संसारमें यह किंवदन्ती भलीभांति प्रसिद्ध है कि चंद्रमाके हिरणका चिह्न है, इसीलिये उसका नाम मृगांक है (अर्थात् चंद्रमामे हिरण रहता है) अत आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस भूमंडलको छोड़कर जो चंद्रमामे जाकर हिरणने स्थिति की है उसका यही कारण है कि वह पासमें स्वर्गमे गाना सुननेके लिये गया है, क्योकि हे जिनेन्द्र ! इन्द्र तथा इन्द्राणीके कानोको सुखके करनेवाले आपके यशको स्वर्गमे सदा देव गान किया करते हैं और हिरणको गान अत्यंत प्रिय है यह प्रत्यक्षगोचर है ॥ ४५ ॥

अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणिंद सा वसइ
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा ॥ ४६ ॥

अलीकं कमले कमला क्रमकमले तव जिनेन्द्र सा वसति
नखकिरणनिभेन घटते नतजने तस्याः कटाक्षच्छटाः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! हे जिनेश ! लक्ष्मी कमलमें रहती है यह बात सर्वथा असत्य है, क्योकि वह लक्ष्मी आपके चरणकमलोमें रहती है, क्योंकि जो भव्य-जीव आपको शिर झुकाकर नमस्कार करते है उन भव्यजीवोके ऊपर नखोंकी किरणोंके बहानेसे उस लक्ष्मीका कटाक्षपात प्रतीत होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् ! आपकी जों नखोकी किरणे है वे नखोंकी किरणे नही किंतु आपके चरणोमे विराजमान जो लक्ष्मी (शोभा) है उसके कटाक्षपात हैं, क्योकि जो पुरुष भक्ति पूर्वक आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते है उनके ऊपर मुग्ध होकर लक्ष्मी कटाक्षपात करती है अर्थात् जो पुरुष आपके चरणकमलोंको शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं उनको लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, वे लक्ष्मीवान बन जाते है इसलियें हे प्रभो ! जो यह संसारमे किंवदती प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी कमलमे निवास करती है यह बात सर्वथा असत्य है किंतु वह आपके चरणकमलोमें ही रहती है, अन्यथा भव्य जीव लक्ष्मीवान कैसे हो सकते हैं ॥ ४६ ॥

जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणंपि
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह बाहिआवरणं ॥ ४७ ॥

ये कृतकुवलयहप त्वयि विद्वेषिणः स तेषामपि
दोषः शशिनि इव आहतानां यथा वाह्यावरणम् ॥

अर्थ.—चद्रमा तो सदा पृथ्वीको (रात्रिविकासी कमलोंको) आनन्दका ही देनेवाला है किंतु जो मनुष्य रोगग्रस्त है वे चद्रमासे घृणा करते है, सो जिस-प्रकार उस घृणाके करनेमें उनके बाह्य आवरणका (उनके रोगका) ही दोष है, चंद्रमाका दोष नही। उसीप्रकार हे जिनेन्द्र! आप तो समस्त भूमण्डलको आनन्दके करनेवाले हैं, यदि ऐसा होने पर भी कोई मूर्ख आपसे विद्वेष करै तो वह उसीका दोष है, इसमे आपका कोई भी दोष नही ॥ ४७ ॥

को इहहि उव्वरंति जिण जयसंहरणमरणवणसिहिणो
तुह पयथुरणिज्झरणीवारणमिणमो ण जइ होंति ॥ ४८॥

क्व इहहि उद्धरति जिन जगत्संहरणमरणवनशिखिनः
तव पादस्तुतिनिर्झरिणीवारणमिदं न यदि भवति ॥

अर्थः—हे भगवन्! हे प्रभो! आपके चरणोकी स्तुति वही हुई नदी, उससे यदि वारण बुझाना नही होता तो समस्त जगतको सहार करनेवाली ऐसी जो मरणरूपी वनकी अग्नि उससे कैसे उद्धार होता?

भावार्थ—यदि किसी कारणसे वनमे अग्नि लग जावे और उस अग्निका बुझानेवाला यदि नदीका जल न होवे तो उस अग्निसे जिसप्रकार कुछ भी चीज नहीं बचती, सब ही भस्म हो जाती है; उसीप्रकार हे जिनेन्द्र! यदि आपके चरणोंकी स्तुतिरूप जो नदी उससे बुझाना न होता तो समस्त जगतको नष्ट करनेवाली मरणरूपी वनाग्निसे किसी प्रकारसे उद्धार नही हो सकता था।

सारार्थ—हे जिनेन्द्र! यदि जीवोको मरनेसे बचाने वाली है तो आपके चरणोंकी स्तुति ही है ॥ ४८ ॥

करजुयलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो करा वसई
सग्गापवग्गकमला थुणंति तं तेण सप्पुरिसा ॥ ४९ ॥

करयुगलकमलमुकुले भालस्थे तव पुरतः कृते वसति
स्वर्गापवर्गकमला कुर्वंति तत् तेन सत्पुरुषः ॥

अर्थः—हे भगवन् ! हे जिनेन्द्र ! जिस समय भव्य जीव आपके सामनें दोनों हाथरूपी कमलोंको मुकुलितकर अर्थात् जोड़कर मस्तकपर रखते हैं उस समय उनको स्वर्ग तथा मोक्षकी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, इसीलिये उत्तम पुरुष हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते है।

भावार्थः—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते है कि हे भगवन् ! जो सज्जन पुरुष हाथ जोड़कर मस्तकपर रखते हैं उनका उस प्रकारका कार्य निष्फल नही है किंतु उनको, हाथ जोड़कर मस्तकपर रखनेसे स्वर्ग तथा मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है अर्थात् हे भगवन् ! जो भव्य जीव आपको हाथ जोड़कर तथा मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं उनको स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

वियलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठगपरिट्ठविया
पणवियसीसाउ तओ पणवियसीसा बुहा होंती ॥ ५० ॥

विगलति मोहनधूलिस्तव पुरतो मोहठगस्थापिता
प्रणमितशीर्षान् ततः प्रणमितशीर्षा बुधा भवंति ॥

अर्थः—हे भगवन् ! हे प्रभो ! जो भव्य जीव आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं उनकी मोहरूपी ठगसे स्थापित मोहन रूपी धूली आपके सामने बातकी बातमें नष्ट हो जाती है इसीलिये विद्वान पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

भावार्थः—जिन जीवोके आत्मा पर जब तक मोहरूपी भयकर तथा दुर्जय ठग द्वारा रचित मोहनधूली विद्यमान रहती है तब तक उन जीवोंको अशमात्र भी हेयोपादेयका ज्ञान नहीं होता किंतु वे विक्षिप्तके समान यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है और यह द्रव्य मेरा है ऐसे असत्य विकल्पोंको सदा किया करते हैं, किंतु हे प्रभो ! जिस समय वे भव्य जीव आपको मस्तक नवाकर विनयसे नमस्कार करते है, उस समय आपके सामने प्रबल भी उस मोहरूपी ठगकी कुछ भी तीन पांच नही चलती अर्थात् वह आपको नमस्कार करनेवाले भव्य जीवोके ऊपर अंशमात्र भी मोहनधूली नही डालसकता इसीलिये उत्तम विद्वान् पुरुष आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं ॥ ५० ॥

बंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स
ससिजोण्णा खज्जोए जडेहि जोडिज्जये तेहिं ॥ ५१ ॥

ब्रह्मप्रमुखाः संज्ञाः सर्वाः तव ये भणंति अन्यस्य
शशिज्योत्स्ना खद्योते जडैः युज्यते तैः ॥

अर्थ.—हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! ब्रह्मा, विष्णु आदिक जो संज्ञा सुननेमें आती हैं, वे आपकी ही है अर्थात् आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विष्णु हैं तथा बुद्ध आदिक भी आप ही हैं, किंतु जो मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु आदि सज्ञा दूसरोंकी मानते हैं; वे मूढ मनुष्य चद्रमाकी चांदनीका खद्योत (जुगनू)के साथ संबध करते है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—खद्योतका (पटबीजनाका) प्रकाश बहुत कम होता है, और शीतल नहीं होता और चंद्रमाका प्रकाश अधिक तथा शान्तिका देनेवाला होता है, यह बात भलीभांति प्रतीतिसिद्ध है, ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य चद्रमाकी अधिक तथा शीतल चादनीको यदि खद्योतकी चादनी कहे तो जिसप्रकार वह मूर्ख समझा जाता है, उसीप्रकार हे प्रभो ! वास्तविक रीतसे तो ब्रह्मा आदिक संज्ञा आपकी ही है किंतु जो मनुष्य चतुर्मुख व्यक्तिको ब्रह्मा कहता है तथा गोपिकाओके साथ रमण करनेवालेको पुरुषोत्तम (विष्णु) कहता है, और पार्वती नामकी स्त्रीके पतिको महादेव कहता है, वह मनुष्य मूर्ख है, क्योकि ब्रह्मा आदिक जो सज्ञा है वे सार्थक हैं तथा उनका अर्थ चतुर्मुख आदि व्यक्तियोमे घट नही सकता इसलिये वे ब्रह्मा आदिक नही हो सकते ॥ ५१ ॥

आदिनाथ स्तोत्रमें भी यही बात कही है—

वसंततिलका।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥

अर्थः—हे आदीश्वर भगवन्! आपके ज्ञानकी बड़े बड़े देव आकर पूजन करते हैं इसलिये आप ही बुद्ध हो, किंतु आपसे भिन्न दूसरा कोई भी बुद्ध नहीं तथा आप ही तीनो लोकके कल्याणके करनेवाले है, इसलिये आप ही शकर हो किंतु आपसे भिन्न कोई भी शकर (महादेव) नही है और हे धीर मोक्षमार्गकी विधिकी रचना करनेवाले आप ही है इसलिये आप ही विधाता (ब्रह्मा) है, किंतु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा नही है और आप प्रकट रीतिसे समस्त पुरुषोंमे उत्तम हैं इसलिये आप ही पुरुषोत्तम (विष्णु) हैं किंतु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति पुरुषोत्तम नही है ॥ १ ॥

और भी आदिनाथ स्तोत्रमे कहा है—

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति सन्तः ॥

अर्थ—हे भगवन्! आप नाशकर रहित है तथा विभु है, अर्थात् आपका ज्ञान सर्व जगह पर व्यापक है और आप अचिन्त्य हैं अर्थात् आपका भलीभांति कोई चितवन नहीं कर सकता और आप असख्य है तथा आप सबके आदिमे हुए हैं और आप ब्रह्मा है तथा ईश्वर है और अन्तकर रहित है तथा आप कामदेव-स्वरूप हैं और समस्त योगियोके ईश्वर हैं तथा आप प्रसिद्ध ध्यानी हैं और आप अपने गुणोंकी अपेक्षा व्यवहारनयसे अनेक हैं तथा परम शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा एक हैं और आप ज्ञानस्वरूप है तथा निर्मल है ऐसा उत्तम पुरुष कहते है।

तं चेव मोक्खपयवी तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स
तं णिक्कारणविद्दो जाइजरामरणवाहिहरो ॥ ५२ ॥

त्वं चैव मोक्षपदवी त्वं चैव शरणं जनस्य सर्वस्य
त्वं निष्कारणवैद्यः जातिजरामरणव्याधिहरः ॥

अर्थ—हे भगवन्! हे जिनेश! आप ही तो मोक्षके मार्ग है तथा समस्त

प्राणियोंके आप ही शरण है और समस्त जन्म–जरा–मरण आदि रोगोके नाश करनेवाले आप ही बिना कारणके वैद्य हैं ॥ ५२ ॥

किच्छाहि समुवलद्धे कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति
तं परमकारणं जिण ण तुमाहिंतो परोअत्थि ॥ ५३ ॥

कृच्छात्समुपलब्धे कृतकृत्या यस्मिन् योगिनो भवंति
तत्परमपदकारणं जिन न त्वत्तः परोऽस्ति ॥

अर्थ·—हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! बड़े कष्टोंसे आपको प्राप्त होकर योगी लोग कृतकृत्य हो जाते हैं अर्थात् ससारमे उनको दूसरा कोई भी काम नही बाकी रहता, इसलिये आपसे भिन्न कोई भी परमपद (मोक्षपद)का कारण दूसरा नही है।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसे देव है तथा वे अपनेको परमपदका कारण भी कहते है, किंतु हे जिनेन्द्र ! उनमे अनेक दूषण मौजूद हैं इसलिये वे परमपदके कारण नही हो सकते; किंतु यदि परमपदके कारण हो तो आप ही हो, क्योंकि योगी तप आदिको करके आपके स्वरूपको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते है ॥५३॥

सुहमोसि तह ण दीससि जह पहु परमाणुपेत्थियेहिंपि
गुरवो तह बोहमए जह तइ सव्वंपि सम्मायं ॥ ५४ ॥

सूक्ष्मोऽसि तथा न दृश्यसे परमाणुप्रेक्षिभिरपि
गरिष्ठस्तथा बोधमये यथा त्वयि सर्वमपि सम्मातम् ॥

अर्थः—हे प्रभो ! हे जिनेश ! आप सूक्ष्म तो इतने है कि परमाणुपर्यन्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाले भी आपको देख नही सकते, तथा गुरु आप इतने हैं कि सम्यग्ज्ञानस्वरूप आपमे यह समस्त पदार्थ-समूह समाया हुआ है अर्थात् आपका ज्ञान आकाशसे भी अनन्तगुणा है, इसलिये आकाशादि समस्त पदार्थ आपके ज्ञानमें झलक रहे हैं ॥ ५४ ॥

णिस्सेसवत्थुसत्थे हेयमहेयं निरूवमाणस्स
तं परमप्पासारो सेसमसारं पलालं वा ॥ ५५ ॥

निश्शेषवस्तुसार्थे हेयमहेयं निरूप्यमाण
त्वं परमात्मा सारः शेषमसारं पलालं वा ॥

अर्थ.—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! समस्त वस्तुओंके समूहमे जो मनुष्य हेय तथा उपादेयको देखनेवाला है उस पुरुषको दृष्टिमे परमात्मा आप ही सार हैं और आपसे भिन्न जितनेभर पदार्थ है वे समस्त सूखे तृणके समान असार हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसारमे अनेक पदार्थ है, किंतु हे प्रभो! जो मनुष्य हेय तथा उपादेयका ज्ञाता है अर्थात् यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है जिसको इस बातका भलीभांति ज्ञान है उस मनुष्यकी दृष्टिमें यदि सारभूत पदार्थ हो तो आप ही हो, क्योंकि आप समस्त कर्मोकर रहित परमात्मा हो परन्तु आपसे भिन्न कोई भी पदार्थ सार नही किन्तु जिस प्रकार सूखा तृण असार है उसीप्रकार आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असार हैं ॥ ५५ ॥

धरइ परमाणुलीलं जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह
अंतो णाणस्स तुह इयरस्स न एरिसी महिमा ॥ ५६ ॥

धरति परमाणुलीलां यद्गर्भे त्रिभुवनमपि तदपि नभः
अंतो ज्ञानस्य तव इतरस्य न ईदृशी महिमा ॥

अर्थः—हे प्रभो! हे जिनेश! जिस आकाशके गर्भमे ये तीनों भुवन परमाणुकी लीलाको धारण करते है अर्थात् परमाणुके समान मालूम पड़ते है वह आकाश भी आपके ज्ञानके मध्यमें परमाणुके समान मालूम पड़ता है, ऐसी महिमा आपके ज्ञानमें ही मौजूद है किंतु आपसे भिन्न और किसी भी देवके ज्ञानमे ऐसी महिमा नही है।

भावार्थः—जैन सिद्धांतमे आकाश अनंतप्रदेशी माना गया है और उस आकाशके दो भेद स्वीकार किये हैं, एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश, उनमें जिसमें जीवादि द्रव्य रहैं उसको लोक कहते हैं, वह लोक इस आकाशके मध्यमें सर्वथा छोटा परमाणुके समान मालूम पडता है क्योंकि लोक असख्यातप्रदेशी ही है तथा आकाश अनंतप्रदेशी है, परतु हे भगवन्! यह एक आपकी अपूर्व महिमा है कि अनंतप्रदेशी भी यह आकाश आपके ज्ञानमें परमाणुके समान ही है, अर्थात् आपका ज्ञान आकाशसे भी हे प्रभो! अनतगुणा है, किंतु हे भगवन्! आपसे भिन्न जितनेभर देव हैं, उनमें यह महिमा नही मौजूद है, क्योंकि जब उनके

केवलज्ञान ही नही है, तो वह अनतगुणा हो किस प्रकार सकता है ॥ ५६ ॥

भुवणथुत्य थुणइ जइ जए सरस्सइ संतयं तुहं तहवि
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो ॥ ५७॥

भुवनस्तुत्य स्तौति यदि जगति सरस्वती संततं त्वां तथापि
न गुणांतं लभते तर्हि कस्तरति जडो जनोऽन्यः ॥

अर्थ.—हे तीन भुवनके स्तुतिके पात्र ! संसारमें सरस्वती आपकी स्तुति करती है, यदि वह भी आपके गुणोके अतको नही प्राप्त कर सकती, तब अन्य जो मूर्ख पुरुष है वह यदि आपके गुणोकी स्तुति करै तो वह कैसे आपके गुणोंका अंत पा सकता है ?

भावार्थः—सरस्वतीके सामने पदार्थका वर्णन करनेमें दूसरा कोई भी प्रवीण नही है, क्योकि वह साक्षात् सरस्वती ही है, परतु हे प्रभो ! जब वह भी आपके गुणोके अतको नही प्राप्त कर सकती है, अर्थात् आपके गुणोके वर्णन करनेमे जब वह भी हार मानती है, तब हे जिनेश ! जो मनुष्य मूर्ख है, अर्थात् जिसकी बुद्धिपर ज्ञानावरणकर्मका पूरा पूरा प्रभाव पडा हुआ है, वह मनुष्य कैसे आपके गुणोंको वर्णन कर सकता है ?

सारार्थ.—हे जिनेन्द्र ! आपमे इतने अधिक गुण विद्यमान हैं, तथा वे इतने गभीर हैं, कि उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

खयरिव्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि
दूरंपि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तयेरंता ॥ ५८ ॥

खचरीव संचरंती त्रिभुवनगुरो तव गुणौघगगने
दूरमपि गता सुचिरं कस्य गोः प्राप्तपर्यंता ॥

अर्थ—हे त्रिभुवनगुरो ! हे जिनेन्द्र ! आपके गुणोके समूहरूपी आकाशमे गमन करनेवाली तथा दूर तक गई हुई ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है ? जो अन्तको प्राप्त हो जावे ।

भावार्थः—जिस प्रकार आकाशमे गमन करनेवाली पक्षिणी यदि दूर तक भी उडनी उड़ती चली जावे तो भी आकाशके अन्तको नही प्राप्त कर सकती, क्योकि आकाश अनन्त है, उसीप्रकार हे प्रभो ! आपके गुण भी अनन्त हैं इसलिये कवि अपनी वाणीसे चाहे जितना गुणोका वर्णन करै तौ भी उसकी वाणी

आपके गुणोंके अन्तको नही पा सकती ॥ ५८ ॥

जत्थअसक्को सक्को अणीसरो ईसरो फणीसोवि

तुह थोत्ते तत्थ कई अहममई तं खमिज्जासु ॥ ५९ ॥

यत्राशक्तः शक्तोऽनीश्वर ईश्वरः फणीश्वरोऽपि

तव स्तोत्रे तत्र वा कविः अहममतिः तत्क्षमस्व ॥

अर्थ —हे गुणागार प्रभो ! जिस आपके स्तोत्र करनेमें इन्द्र भी असमर्थ हैं और महादेव तथा शेषनाग भी अशक्त है उस आपके स्तोत्र करनेमें मैं अल्पबुद्धि कवि क्या चीज हूं ? इसलिये मैने भी जो आपका स्तोत्र किया है उसको क्षमा कीजिये

भावार्थ.—हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! आपके गुणोंका स्तोत्र इतना कठिन है कि साधारण मनुष्योंकी तो क्या बात जो बुद्धिमान तथा सामर्थ्यवान हैं ऐसे इन्द्र ईश्वर (महादेव) तथा धरणेन्द्र है वे भी नही कर सकते, किन्तु मुझ अल्पबुद्धिने इस आपके स्तोत्रके करनेका साहस किया है इसलिये यह मेरा एक प्रकारका बड़ा भारी अपराध है अत विनय पूर्वक प्रार्थना है कि मेरे अपराधको आप क्षमा करे ॥ ५९ ॥

तं भव्वपोमणंदी तेयणिहीणो सरुव्वणिद्दोसो

मोहंधयारहरणे तुह पाया मम पसीयंतु ॥ ६० ॥

त्वं भव्यपद्मनदी तेजोनिधिः सूर्यवन्निर्दोषः

मोहांधकारहरणे तव पादौ मम प्रसीदेताम् ॥

अर्थ.—हे जिनेश ! हे प्रभो ! आप भव्यरूपी कमलोको आनन्दके देनेवाले तथा तेजके निधान और निर्दोष सूर्यके समान हैं, इसलिये मोहरूपी अधकारके नाश करनेके लिये आपके चरण सदा प्रसन्न रहे।

भावार्थः—जिसप्रकार सूर्य कमलोको आनन्दका करनेवाला होता है तथा तेजका भण्डार होता है और निर्दोष होता है तथा उसकी किरणे समस्त अधकारके नाश करनेवाली होती है, उसीप्रकार हे प्रभो ! आप भी भव्यरूपी कमलोको आनन्दके देनेवाले हैं तथा तेजके निधान है तथा निर्दोष हैं, इसलिये आप सूर्यके समान हैं इसलिये विनय पूर्वक प्रार्थना है कि आपके चरण मोहरूपी अन्धकारका नाश करनेके लिये सदा मेरे ऊपर प्रसन्न रहे ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्यद्वारा रचित श्रीपद्मनन्दिपचविंशतिकामें

ऋषभस्तोत्र समाप्त हुआ ॥